की अति-चालकता की व्याख्या के लिए तथा उनके साथ इलिनॉय विश्वविद्यालय के एन्थनी लेगेट को एक तरह के अति-तरल पदार्थ पर उनके काम के लिए पुरस्कृत किया गया है। गिंज़बर्ग का सिद्धांत तो अब पाठ्य पुस्तकों में भी शामिल हो चुका है।

अति-तरल या सुपरफ्लुइड अवस्था वह होती है जब कोई पदार्थ ऐसी स्थिति में पहुंच जाए कि उसकी श्यानता यानी विस्कॉसिटी शून्य हो जाए यानी वह बगैर किसी प्रतिरोध के बह सके। यदि ऐसा सुपरफ्लुइड परमाणुओं की बजाय मात्र इलेक्ट्रॉनों से मिलकर बना हो, तो इलेक्ट्रॉन बगैर किसे प्रतिरोध के बहते हैं और इसे हम अति-चालकता कहते हैं। अभी तक यह स्थित बहुत ही कम तापमान पर ही देखी गई है हालांकि समय-समय पर उच्च तापमान पर अति-चालकता के दावे बहुत बार किए जा चुके हैं। इसके भौतिक शास्त्र में न जाएं तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि सामान्य ताप पर अति चालकता संभव हुई तो बहुत ही उपयोगी होगी क्योंकि तब बिजली बगैर किसी प्रतिरोध के बहेगी और इसमें ऊर्जा बिलकुल खर्च नहीं होगी।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि इस वर्ष 7 लोगों में बंटे विज्ञान के 3 नोबल पुरस्कार मूलतः उपयोगी शोध को नज़र किए गए हैं। *(स्रोत फीचर्स)*

हिटलर को बचाने पेनिसिलीन कहां से आई?

1944 में एडोल्फ हिटलर की हत्या का एक प्रयास असफल रहा था। हिटलर की मेज़ के पास रखे एक ब्रीफकेस में रखा बम फूट गया था और वह बुरी तरह घायल हुआ था। उस समय एण्टीबायोटिक औषधियां इतनी आसानी से उपलब्ध नहीं थीं। मगर शेफील्ड विश्वविद्यालय के मिल्टन वैनराइट का मत है कि हिटलर का इलाज पेनिसिलीन से किया गया था। वैनराइट एक विख्यात सूक्ष्मजीव विशेषज्ञ हैं। हाल ही में प्रकाशित शोध पत्र में वैनराइट ने इस बात पर विचार किया है कि आखिर हिटलर के निजी डॉक्टर थियो मोरेल को पेनिसिलीन मिली कहां से? वैनराइट का दावा है कि यदि पेनिसिलीन न होती तो हिटलर का बचना असंभव था।

दरअसल वैनराइट को पेनिसिलीन के उपयोग की जानकारी डॉ. मोरेल की डायरी से मिली। उस डायरी में मोरेल ने ज़िक्र किया है कि उन्होंने हिटलर को पेनिसिलीन दी थी। वैनराइट का माथा ठनका क्योंकि उस समय चिकित्सा योग्य पेनिसिलीन सिर्फ मित्र राष्ट्रों के पास उपलब्ध थी। वैनराइट ने खोजबीन की तो पता चला कि जर्मनी व चेकोस्लोवाकिया के दल ने भी इस दवाई को बनाने की कोशिश की थी मगर उनकी दवाई अशुद्ध थी और ज़ाहिर है डॉ. मोरेल ऐसी अविश्वसनीय दवाई हिटलर को देने का खतरा कदापि न उठाते।

वैनराइट की खोजबीन आगे बढ़ी तो पता चला कि मित्र राष्ट्रों के वायु सैनिकों के पास पेनिसिलीन होती थी। हो सकता है कि जर्मनी ने युद्धबंदियों के पास से पेनिसिलीन बरामद की हो। या यह भी हो सकता है कि जर्मनी को यह दवाई स्पैन जैसे किसी निष्पक्ष देश से मिली हो। मित्र राष्ट्रों ने मानवीय आधार पर ऐसे देशों को पेनिसिलीन उपलब्ध कराई थी। वैनराइट का कहना है कि उनके पास इस बात के प्रमाण हैं। इन देशों से किसी प्रकार से कूटनीतिज्ञों के ज़रिए यह दवाई जर्मनी पहुंची होगी। और ज़ाहिर है, जर्मनी में इसे नाज़ी पार्टी के वरिष्ठ लोगों के लिए आरक्षित रखा गया होगा।

वैनराइट का कहना है कि पक्की तौर पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि पेनिसिलीन के अभाव में हिटलर की मृत्यु निश्चित थी मगर एक तथ्य यह भी है कि हिटलर का एक निकट सहयोगी राइनहार्ड हेड्रिच इसी तरह घायल होकर मारा गया था। उसके घावों में तमाम जानलेवा इन्फेक्शन हो गए थे।

ऐसा लगता है कि यदि किसी तरह से पेनिसिलीन जर्मनी न पहुंची होती, तो हिटलर एक वर्ष पूर्व ही दुनिया से कूच कर जाता और लाखों जानें बच जातीं। *(स्रोत फीचर्स)*

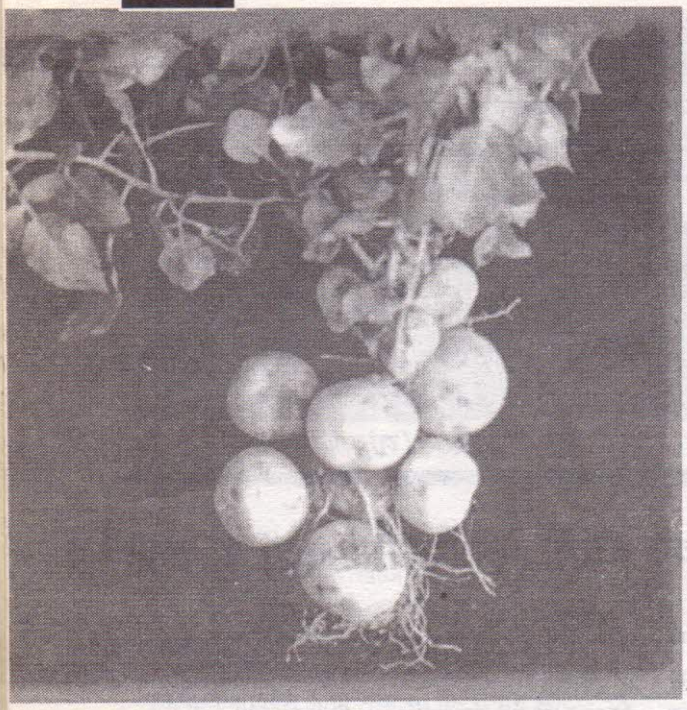

इस आलू से देश की कुपोषण की समस्या दूर करने की बात भी अतिरंजित है। कई वैज्ञानिकों ने इन दावों पर शंकाएं प्रकट की हैं। इसके पहले 'सुनहरा चावल' नामक चावल की एक जिरूप प्रजाति का भी यह कहकर बहुत प्रचार किया गया था कि इसमें विटामिन-ए ज़्यादा है और इससे दुनिया के गरीब मुल्कों में लोगों के शरीर में विटामिन-ए की कमी दूर हो जाएगी।
दरअसल कुपोषण एक आर्थिक-सामाजिक समस्या है, जिसे सिर्फ कुछ तकनीकी चमत्कारों से दूर नहीं किया जा सकता। सोयाबीन की खेती का प्रचार-प्रसार भी यह कहकर किया गया था कि सोयाबीन में बहुत प्रोटीन है और इससे भारतवासियों के शरीर में प्रोटीन की कमी दूर हो जाएगी। कहीं इसके पीछे जैव टेक्नॉलॉजी उद्योग तो नहीं, जो जन-कल्याण के बड़े-बड़े नारों की आड़ में समाज की व सरकार की स्वीकृति और मान्यता पाना चाहता हो?

क्या जीन-परिवर्तित आलू से कुपोषण समस्या हल होगी?

सुनील

जैव टेक्नॉलॉजी और जीन इंजीनियरिंग के चमत्कारों की खबरें अक्सर आती रहती हैं। ऐसी ही एक खबर है कि दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने आलू की एक ऐसी प्रजाति विकसित की है, जिसमें प्रोटीन की मात्रा ज़्यादा होगी। साधारण आलू के मुकाबले इस आलू में एक-तिहाई से लेकर 45 प्रतिशत ज़्यादा प्रोटीन होगा। इसे प्रोटेटो कहा जा रहा है। यह उपलब्धि वैज्ञानिकों ने आलू में रामदाना (या राजगिरा) का जीन डालकर हासिल की है। रामदाना में प्रोटीन की मात्रा कांफी रहती है।

यह दावा किया जा रहा है कि इस आलू से भारत में कुपोषण की समस्या हल करने में मदद मिलेगी। भारतीय बच्चों में प्रोटीन की कमी रहती है, जिसे दूर करने में यह आलू मददगार होगा। बी.बी.सी. को दिए साक्षात्कार में भारत सरकार के जैव टेक्नॉलॉजी विभाग की अध्यक्ष सुश्री मंजू शर्मा ने कहा है कि छह महीने में इसे सरकार की अनुमति मिल जाएगी। वे तो इतनी उत्साहित हैं कि स्कूलों के मध्यान्ह भोजन में इस आलू को शामिल करने की योजना भी उन्होंने बना ली है।

सरकार में बैठे लोगों का यह अति-उत्साह समझ के बाहर है। पौधों की जिनेटिक रूप से परिवर्तित (जिरूप) प्रजातियां पर्यावरण के लिए एक बिल्कुल नई चीज़ होती है। इनमें कई खतरे हो सकते हैं, जिनको पूरी तरह समझना ज़रूरी है। इसका पर्यावरण पर, लोगों के खानपान व स्वास्थ्य पर, किसानों की आर्थिक स्थिति पर तथा देश की अर्थव्यवस्था पर क्या असर पड़ेगा, इसकी बारीकी से जांच की ज़रूरत होती है। इसके पहले बी.टी. कपास की जिरूप प्रजाति को भारत सरकार ने अनुमति दी है, लेकिन उसके पहले कई सालों तक देश के अनेक राज्यों में खेतों में

इसके प्रयोग किए गए और उनके नतीजों की जांच की गई। यह समझना मुश्किल है कि सुश्री मंजू शर्मा इस आलू को कैसे छह महीनों के अंदर अनुमति दे देंगी।

फिर, बी.टी. कपास का अनुभव भी किसानों के लिए बहुत अच्छा नहीं रहा है। इस देश में यह पहला जिरूप बीज था, जिसे भारत सरकार ने अनुमति दी है। इसकी पेटेन्ट धारक तथा इसको बेचने वाली अमरीका की मोनसेन्टो कंपनी ने लंबे-चौड़े दावे किए थे। कहा था कि इससे कपास में लगने वाले कीड़े व रोग खत्म हो जाएंगे, कीटनाशकों की ज़रूरत नहीं होगी, उत्पादन बढ़ेगा, किसान की आमदनी बढ़ जाएगी और किसानों की आत्महत्याएं रुक जाएंगी। लेकिन विभिन्न राज्यों से जो खबरें मिली हैं, उसके मुताबिक ये दावे सही साबित नहीं हुए हैं। बॉलवर्म नामक कीड़े के प्रति कुछ प्रतिरोधक क्षमता तो इस कपास के पौधे में है (हालांकि यह भी समय के साथ कम या खत्म हो सकती है) लेकिन अन्य कीटों व रोगों का कोई इलाज नहीं है। कीटनाशक दवाइयों का फिर भी बहुत इस्तेमाल करना पड़ रहा है, उत्पादन में कोई विशेष बढ़ोतरी नहीं हुई है। बल्कि अत्यधिक महंगे बीजों के कारण किसान की लागत बढ़ गई है और उसे कोई फायदा नहीं हो रहा है।

ठीक इसी तरह की कई समस्याएं नए आलू की खेती में भी आ सकती हैं, जिन पर अभी तक कोई विचार नहीं किया गया है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वर्तमान में आलू के किसान ज़बर्दस्त संकट से गुज़र रहे हैं। पिछले वर्ष आलू के दाम बहुत गिरने और लागतें बढ़ते जाने से किसानों को बहुत नुकसान हुआ। कुछ जगहों से तो किसानों द्वारा आत्महत्याएं करने की भी खबर है। नए आलू का पेटेन्ट होगा, बीज महंगा होगा, इसमें नए रोग लग सकते हैं, तब यह आलू कैसे चलेगा? क्या सरकार इसके लिए भारी अनुदान देगी? क्या यह किसानों को और गहरे संकट में नहीं फंसा देगा?

इस आलू से देश की कुपोषण की समस्या दूर करने की बात भी अतिरंजित है। कई वैज्ञानिकों ने इन दावों पर शंकाएं प्रकट की हैं। इसके पहले 'सुनहरा चावल' नामक चावल की एक जिरूप प्रजाति का भी यह कहकर बहुत प्रचार किया गया था कि इसमें विटामिन-ए ज़्यादा है और इससे दुनिया के गरीब मुल्कों में लोगों के शरीर में विटामिन-ए की कमी दूर हो जाएगी। आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले मध्यप्रदेश व अन्य राज्यों में सोयाबीन की खेती का प्रचार-प्रसार भी यह कहकर किया गया था कि सोयाबीन में बहुत प्रोटीन है और इससे भारतवासियों के शरीर में प्रोटीन की कमी दूर हो जाएगी। लेकिन यह तथ्य छुपा लिया गया था कि सोयाबीन इंसान सीधे नहीं खा सकता, पचा नहीं सकता, वह मूलतः एक पशु आहार है। मनुष्य के लिए खाने योग्य बनाने के लिए उसे काफी औद्योगिक प्रक्रियाओं से परिष्कृत करना होगा। सोयाबीन की खेती तो फैल गई, लेकिन उसका प्रोटीन वाला हिस्सा यानी सोयाबीन की खली का लगभग पूरा निर्यात होता रहा। भारत के हिस्से में सिर्फ तेल आया। प्रोटीन की कमी ज्यों की त्यों रह गई। दरअसल प्रोटीन की कमी की बात तो एक बहाना था, वास्तव में युरोप में पशु-आहार की कमी पूरी करने के लिए भारत में सोयाबीन की खेती शुरू करवाई गई थी। भारतवासियों के लिए नहीं, बल्कि युरोपीय लोगों के लिए अण्डे, मुर्गे, मांस, दूध, मक्खन आदि तैयार करने के लिए सोयाबीन के ढोल पीटे गए थे।

इसी तरह का खेल एक बार फिर तो नहीं खेला जा रहा है? कहीं इसके पीछे पूरा जैव टेक्नॉलॉजी उद्योग तो नहीं, जो इस तरह के शगूफे छोड़कर समाज की व सरकार की स्वीकृति और मान्यता पाना चाहता हो? जन-कल्याण के बड़े-बड़े नारों के पीछे घोर व्यावसायिक मुनाफाखोरी के स्वार्थों और बीजों व खेती पर कब्जा करने के असली इरादों को छिपाने की कोशिश तो नहीं है? विशेषकर इसलिए भी कि युरोप में जिरूप बीजों का काफी विरोध हो रहा है और अमरीकी कंपनियों को वहां मनचाही सफलता नहीं मिल पा रही है।

सवाल यह है कि यदि प्रोटीन की कमी दूर करना है, तो प्रोटीन के परंपरागत स्रोत क्या बुरे हैं? क्यों न उन्हें बढ़ावा दिया जाए? जिस प्रोटीन समृद्ध रामदाना या राजगिरा का जीन आलू में डाला जा रहा है, उसे ही सीधे लोगों के भोजन में या स्कूलों के मध्यान्ह भोजन में शामिल करने के

बारे में क्यों नहीं सोचा जाता है? आलू में तो मात्र 1.98 (नए उत्पाद में अधिकतम 2.8 प्रतिशत) प्रोटीन होता है, जबकि गेहूं में 8-9 प्रतिशत, राजगिरा में 14.2 प्रतिशत तथा दालों में 20-24 प्रतिशत प्रोटीन है। भारतीय भोजन में प्रोटीन का एक प्रमुख स्रोत दालें हैं। भारत के लगभग हर प्रांत में विभिन्न दालों की खेती होती है। लेकिन दालों की बहुत उपेक्षा हुई है और आज़ादी के बाद प्रति व्यक्ति दाल उपलब्धता बढ़ने की बजाय कम हुई है। हरित क्रांति का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि गेहूं और धान की खेती बहुत बढ़ी और इसने दालों तथा मोटे अनाजों का रकबा कम करके उनको विस्थापित कर दिया। सोयाबीन, गन्ना, कपास आदि व्यापारिक फसलों ने भी दालों की खेती को कम किया। इस बारे में भारतीय योजनाकार चुप बैठे हैं। दालों के अलावा भारतीयों के भोजन में दूध, मछली, अण्डे व मांस भी प्रोटीन के प्रमुख स्रोत हैं।

दरअसल कुपोषण एक गंभीर आर्थिक-सामाजिक समस्या है, जिसे सिर्फ कुछ तकनीकी चमत्कारों से दूर नहीं किया जा सकता। इसका असली कारण गरीबी, विषमता और शोषण की व्यवस्था है। कुपोषण व भुखमरी क़ो दूर करना है तो इस व्यवस्था पर चोट करना ज़रूरी है। इस तरह के तकनीकी समाधान शासकों को इसलिए भी पसंद आते हैं, क्योंकि वे कुपोषण जैसी समस्याओं की तह में नहीं जाना चाहते और सच्चाइयों से मुंह मोड़ना चाहते हैं।

कुपोषण, भुखमरी और गरीबी का सम्बंध उस गलत विकास नीति, गलत टेक्नॉलॉजी एवं गलत जीवन-शैली से भी है, जिसे आज़ादी के बाद बिना पर्याप्त सोचे-विचारे हमारे समाज ने अपनाया व हमारे शासकों ने बढ़ावा दिया। हरित क्रांति के फलस्वरूप दालों की खेती कम होना इसका महज़ एक उदाहरण है। आज से लगभग नब्बे साल पहले महात्मा गांधी ने भी बार-बार भारतवासियों के भोजन में आ रही दो विकृतियों की ओर आगाह किया था, जिनका सीधा सम्बंध पोषण व स्वास्थ्य से है। एक तो चावल को मिल में तैयार करने से उसका ऊपरी आवरण निकल जाता है जो काफी पौष्टिक होता है। पॉलिश किया हुआ चावल देखने में भले ही सुन्दर हो लेकिन खाने में बहुत घटिया है। दूसरा, गेहूं के आटे से चोकर निकाल देने से भी काफी पौष्टिक तत्व चले जाते हैं। यदि भोजन में इन दो हानियों को रोक लिया जाए, तो बिना किसी तकनीकी चमत्कार का सहारा लिए भी, भारतवासियों के पोषण में काफी सुधार हो सकता है। इसी के साथ गांधी एक दूसरा संदेश भी दे गए हैं। वह यह कि हमारी समस्याओं को दूर करने के लिए हमें पश्चिम में विकसित टेक्नॉलॉजी की अंधी नकल करने के बजाय अपनी टेक्नॉलॉजी का स्वयं विकास करना होगा। दूसरे शब्दों में हमें ज़्यादा टेक्नॉलॉजी नहीं, उपयुक्त टेक्नॉलॉजी की ज़रूरत है। जैव टेक्नॉलॉजी के बारे में भी यह बात सही लगती है। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***

एक मानवीय त्रुटि की कीमत

पिछले वर्ष सितंबर में यह सनसनीखेज खबर आई थी कि एक्सटेसी नामक यौनवर्धक दवाई का सेवन करने पर मस्तिष्क में क्षति हो सकती है और पार्किन्सन रोग के लक्षण उभर सकते हैं। खबर तो यह थी कि यदि आपने एक रात भी एक्सटेसी का उपयोग किया है, तो हो गया कबाड़ा!

मगर अब पता चला है कि जिस प्रयोग के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाले गए थे उसमें एक बचकाना भूल हो गई थी। इस वर्ष सितंबर में *साइंस* पत्रिका में एक पत्र प्रकाशित हुआ है जिसमें मूल शोधकर्ताओं ने अपने निष्कर्ष वापिस ले लिए हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस शीशी में से एक्सटेसी निकालकर 10 बंदरों को दी गई थी, दरअसल उस पर गलत लेबल लगा था और वास्तव में उसमें मिथ-एम्फीटेमीन नामक पदार्थ भरा था। यह एक मानवीय भूल थी मगर इसकी कीमत तो देखिए।

यह तो पहले से पता था कि एक्सटेसी दिमाग में सिरोटोनीन नामक पदार्थ के उत्पादन व उपभोग को प्रभावित करती है। उपरोक्त शोध से यह प्रमाण भी मिल गया कि 'एक्सटेसी' डोपेमीन बनाने वाली कोशिकाओं को भी हानि पहुंचाती है। ठीक यही स्थिति पार्किन्सन रोग में

भी होती है।

उस समय भी कई वैज्ञानिकों ने इन परिणामों की उपयोगिता पर संदेह व्यक्त किए थे। मसलन कहा गया था कि उन बंदरों को एक्सटेसी की जितनी खुराक दी गई थी, क्या इंसान उतनी मात्रा का सेवन करेंगे? इसी प्रकार से यह सवाल भी उठा था कि यदि इस प्रयोग के निष्कर्ष सही हैं तो एकाध इंसान तो ऐसा मिले जो कैंसर या पार्किन्सन रोग से पीड़ित हुआ हो। ऐसा कोई व्यक्ति था नहीं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह भी कहा कि यदि एक्सटेसी के असर इस कदर भयानक हैं तो लोगों को इसका सेवन करने के तुरन्त बाद टपक जाना चाहिए।

बहरहाल उस समय शोधकर्ता जॉर्ज रिकॉर्टे ने लगातार अपने निष्कर्षों का बचाव किया था। उन्होंने कई तरह से यह भी समझाने का प्रयास किया था कि क्यों उनके आलोचक गलत हैं।

इस बीच दवा-विरोधी कार्यकर्ताओं ने भी अपनी मुहिम तेज़ कर दी थी। उन्होंने मांग कर डाली थी कि एक ऐसा कानून बनाया जाना चाहिए जिसके तहत उन क्लबों पर जुर्माना किया जा सके जो इन दवाइयों के उपयोग को नज़रअंदाज़ करते हैं।

सवाल यह उठता है कि किसी प्रचलित दवाई के बारे में इतना ज़ोरदार दावा करने से पहले किस तरह का अध्ययन ज़रूरी था? जब यह शोध कार्य *साइंस* पत्रिका में प्रकाशित हुआ था तब जाने-माने तंत्रिका वैज्ञानिकों ने इसकी कड़ी आलोचना की थी। इससे लगता है कि पत्रिका द्वारा इसकी प्रकाशन पूर्व समीक्षा सरसरी तौर पर ही की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि *साइंस* जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका ने इसे प्रकाशित करने में इतनी फुर्ती इसलिए दिखाई क्योंकि परिणाम सनसनीखेज थे।

कहने का मतलब यह नहीं है कि एक्सटेसी का दिमाग पर कोई असर नहीं होता। शायद यह असर ज़्यादा धीमा व बारीक है। कई अध्ययनों के परिणाम परस्पर विपरीत भी रहे हैं। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि ऐसे मामलों में शोधकर्ता अपने प्रयोगों में निहित अनिश्चितता की सीमा को भी ज़ाहिर करें। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***

मंगल ग्रह की लाली का राज़

पिछले दिनों मंगल ग्रह चर्चा में रहा क्योंकि वह पृथ्वी के निकटतम आ गया था। वैसे भी आकाश में लाल-सा दिखने वाला मंगल चर्चा में रहता ही है। सवाल यह है कि यह ग्रह लाल क्यों है।

यह माना जाता रहा है मंगल पर उपस्थित पानी के कारण वहां की चट्टानों पर लगे ज़ंग की वजह से मंगल लाल नज़र आता है। मगर हाल ही में किए गए विश्लेषण से पता चलता है कि शायद यह व्याख्या सही नहीं है।

मंगल के पर्यावरण को प्रयोगशाला में निर्मित करके किए गए प्रयोगों से लगता है कि मंगल की लालिमा उसकी सतह पर लगातार गिर रहे उल्का पिण्डों की वजह से है। चूंकि बात पानी की उपस्थिति से जुड़ी है इसलिए यह सवाल भी उठ ही जाता है कि क्या कभी मंगल जीवन के अनुकूल रहा होगा या नहीं?

मंगल का लाल रंग लौह ऑक्साइड की वजह से है, इस बात को सभी स्वीकार करते हैं। अब तक खगोलशास्त्री यह मानते आए थे कि मंगल की चट्टानों में मौजूद लौह तत्व का आक्सीकरण पानी की मौजूदगी में ही हुआ होगा। यानी मंगल पर पानी होना चाहिए।

मगर नासा के वैज्ञानिक अल्बर्ट येन ने जब पाथफाइन्डर द्वारा मंगल से लाए गए नमूने देखे तो उन्हें उक्त निष्कर्ष पर शंका हुई। पाथफाइंडर के अवलोकनों से निष्कर्ष निकलता है कि मंगल की ऊपरी मिट्टी में वहां की चट्टानों की अपेक्षा कहीं अधिक लौह व मैग्नीशियम है। इसका मतलब है कि ये खनिज कहीं ओर से आए हैं। ऐसा लगता है कि मंगल पर लगातार उल्का पिंडों की बौछार से प्रति एक अरब वर्षों में उस ग्रह पर धूल की पांच से.मी. मोटी परत जमा हो जाती है।

अब देखना यह था कि क्या यह लौह तत्व पानी की अनुपस्थिति में भी लाल ऑक्साइड में तब्दील हो सकता है। इस बात की जांच के लिए अल्बर्ट येन ने धात्विक लौह को एक ऐसे वातावरण में रखा जो मंगल के वायुमण्डल के समान था। अब इस नमूने पर पराबैंगनी किरणों की बौछार की गई। इस दौरान तापमान शून्य से 60 डिग्री नीचे रखा गया। एक सप्ताह के अन्दर लौह ऑक्साइड बनना शुरू हो गया था।

येन ने अभी यह दावा तो नहीं किया है कि मंगल पर पानी नहीं है। उनका कहना है मंगल पर पाई गई गहरी घाटियां दर्शाती हैं कि कभी वहां पानी बहा होगा। मगर उनका कहना है कि इस पानी ने मंगल ग्रह को आकार देने में ज़्यादा भूमिका नहीं निभाई है।

इसके अलावा, एरिज़ोना राज्य विश्वविद्यालय के जोशुआ बैण्डफील्ड का कहना है कि मंगल ग्रह की स्थिति विरोधाभासी है। उनके दल ने हाल ही में विश्लेषण करके बताया है कि मंगल पर कहीं भी कार्बोनेट लवणों के भण्डार नहीं हैं जबकि यदि मंगल पर बड़ी-बड़ी जलराशियां होतीं तो कार्बोनेट के भण्डार मिलने चाहिए थे। बैण्डफील्ड का मत है कि यदि पानी है भी तो वह बर्फ के रूप में है और किसी समय पिघलकर बहा होगा और घाटियों का निर्माण करके फिर बर्फ के रूप में जमा हो गया होगा।

कुल मिलाकर इन नई खोजों ने मंगल पर पानी की उपस्थिति और जीवन की उत्पत्ति पर सवालिया निशान लगा दिया है। तो यह लाल ग्रह अभी चर्चा में रहेगा।

एक नई आवर्त तालिका में

डेलीव ने 1871 में तत्वों की एक आवर्त तालिका बनाई थी जिसमें तत्वों को उनके परमाणु भार के क्रम में रखा गया था। इस तरह रखने पर एक निश्चित अंतराल के बाद समान गुण वाला तत्व आता है। तब से आवर्त तालिका रसायन शास्त्र में अत्यंत उपयोग साबित हुई है और इसमें समय-समय पर संशोधन भी हुए हैं। सबसे प्रमुख संशोधन यह हुआ कि तत्वों को उनके परमाणु भार की बजाय परमाणु संख्या (तत्व के केंद्रक में प्रोटान की संख्या) के क्रम में जमाया गया।

मगर एथेन्स के जॉर्जिया विश्वविद्यालय के अध्यापक ब्रूस रेल्सबैक इस तालिका से खासे परेशान थे। वे भूविज्ञान पढ़ाते हैं और एक दिन जब वे आवर्त तालिका की मदद से छात्रों को प्रकृति में तत्वों का वितरण समझा रहे थे तो बहुत परेशान हो गए। प्रकृति में तत्वों का वितरण समझाने में उनके हाथों को काफी मशक्कत करना पड़ी थी क्योंकि मूल आवर्त तालिका में वे बहुत दूर-दूर थे। तो कक्षा से लौटकर वे एक नई तालिका बनाने में जुट गए।

धरती पर जो खनिज पाए जाते हैं वे तत्वों के

Li^{1+}	Ba^{2+}	B^{3+}	C^{4+}	N^{5+}	
Na^{1+}	Mo^{2+}	Al^{3+}	Si^{4+}	P^{5+}	S^{6+}
K^{1+}	Ca^{2+}	Sc^{3+}	Ti^{4+}	V^{5+}	Cr^{6+}
Rb^{1+}	Sr^{2+}	Y^{3+}	Zr^{4+}	Nb^{5+}	Mo^{6+}
Cs^{1+}	Ba^{2+}	La^{3+}	Hf^{4+}	Ta^{5+}	W^{6+}

आवेशित रूप (आयन) से बनते हैं। इन आयनों का व्यवहार मूल तत्व से भिन्न होता है। रेल्सबैक ने एक-से आवेश वाले आयनों को इस आधार पर समूहीकृत किया कि वे पृथ्वी पर कहां पाए जाते हैं। कुछ तत्वों के आयन धन आवेश युक्त होते हैं जबकि कुछ तत्वों के आयनों पर ऋण आवेश होता है। कई तत्व अलग-अलग आवेश वाले आयन भी बनाते हैं। जैसे गंधन के आयन 2 धनावेश युक्त, 4 धनावेश युक्त या 6 धनावेश युक्त हो सकते हैं।

भूवैज्ञानिक जानते हैं कि किसी भी खनिज पदार्थ के गुण (जैसे गलनांक, पानी में घुलनशीलता) उसके आयनों

की साइज़, आवेश तथा संरचना पर निर्भर है। अतः आयनों के ऐसे समूह बनाए जा सकते हैं जिनके रासायनिक गुण एक-से होंगे और वे एक-से वातावरण में पाए जाएंगे।

रेल्सबैक की तालिका में पांच रासायनिक कबीले हैं - जो खनिज मिट्टी में पाए जाते हैं, जो भूपर्पटी और मेंटल में पाए जाते हैं, जो पानी में घुलित अवस्था में पाए जाते हैं, जो वातावरण में तैरते रहते हैं और जो जीवन का मूल पोषण बनाते हैं।

मसलन जीवन एकल आवेश वाले आयनों (पोटेशियम, सोडियम) को पसंद करता है जबकि एकाधिक आवेश वाले आयन (जैसे एल्यूमिनियम और सिलिकॉन) आम तौर पर अधिक स्थिर खनिज बनाते हैं और ये धरती की पर्पटी या मेंटल में ही पाए जाते हैं।

उपयोगी साबित हुई तो रेल्सबैक की तालिका जल्दी ही भूविज्ञान की कक्षाओं की दीवारों पर नज़र आएगी।

(स्रोत विशेष फीचर्स)

नशीली दवाइयां नए अनुभवों के असर को रोकती हैं

यह तो पहले से पता था कि एम्फीटेमीन और कोकेन जैसी नशीली दवाइयां दिमाग की कोशिकाओं में नई कड़ियां बनाने की क्षमता को कम करती हैं। मगर हाल में जंतुओं पर किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि दवाई का सेवन रोक देने के बाद भी उनका यह असर बना रहता है।

जब हम किसी नए अनुभव से गुज़रते हैं तो हमारे दिमाग में मौजूद तंत्रिकाओं के बीच नई कड़ियां स्थापित होती हैं। इन नई कड़ियों को बनाने के लिए तंत्रिकाओं में नई-नई शाखाएं निकलती हैं जिन्हें डेन्ड्राइट्स कहते हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि एम्फीटेमीन, कोकेन, निकोटीन जैसे पदार्थों का भी यही असर होता है यानी इन पदार्थों के सेवन से भी हमारे दिमाग की तंत्रिकाओं में डेन्ड्राइट्स का निर्माण होता है। तो कनाडा व यू.एस. के कुछ वैज्ञानिकों ने सोचा कि ये दवाइयां अवश्य नए अनुभवों के प्रति दिमाग की प्रतिक्रिया को प्रभावित करेंगी। उन्होंने चूहों पर इस बात की जांच की।

लेथब्रिज विश्वविद्यालय और मिशिगन विश्वविद्यालय के इन शोधकर्ताओं ने चूहों के दो समूह बनाए। इनमें से एक समूह के चूहों को 20 दिन तक प्रतिदिन कोकेन या एम्फीटेमीन की एक खुराक दी गई। तुलना के लिए गए दूसरे समूह के चूहों को मात्र सैलाइन का इंजेक्शन किया गया। बीस दिन बाद दोनों समूहों को दो-दो उपसमूहों में बांट दिया गया। इनमें से एक-एक उपसमूह को अत्यंत रोचक व स्फूर्तिदायक माहौल में रखा गया जबकि दूसरे उपसमूह के चूहों को साधारण पिंजड़ों में। 24 सप्ताह तक इस तरह अलग-अलग माहौल में रखने के बाद इन चूहों के दिमाग के उन हिस्सों को देखा गया जो नए अनुभवों और नशीली दवाइयों दोनों के प्रति प्रतिक्रिया देते हैं।

जैसी कि उम्मीद थी मात्र सैलाइन का इंजेक्शन पाए चूहों को जब रोचक माहौल में रखा गया तो उनमें नए डेन्ड्राइट्स की वृद्धि भी ज़्यादा हुई। दूसरी ओर एम्फीटेमीन की खुराक पाने के बाद चूहों को चाहे रोचक माहौल में रखा गया या सादे माहौल में, डेन्ड्राइट्स की वृद्धि एक समान ही हुई। इससे लगता है कि एम्फीटेमीन खाते-खाते उन चूहों में डेन्ड्राइट वृद्धि की सीमा आ गई थी। मगर एक तथ्य यह सामने आया कि यदि उन चूहों को और एम्फीटेमीन दी जाए तो फिर से डेन्ड्राइट वृद्धि होने लगती है। यानी डेन्ड्राइट वृद्धि की सीमा नहीं आई है। मगर नए अनुभव की वजह से होने वाली डेन्ड्राइट वृद्धि को एम्फीटेमीन ने ज़रूर रोका है। यानी ये नशीली दवाइयां खुद तो डेन्ड्राइट वृद्धि को बढ़ाती हैं मगर अन्य कारणों से होने वाली इसी वृद्धि को दबाती हैं। यह विरोधाभासी अवलोकन अभी और प्रयोगों की मांग करता है। *(स्रोत विशेष फीचर्स)*